



विषय	हिंदी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	P3: कथेतर साहित्य
इकाई सं. एवं शीर्षक	M15 : शुक्लोत्तर आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
इकाई टैग	HND_P3_M15

निर्माता समूह	
प्रमुख अन्वेषक	प्रो. गिरीश्वर मिश्र कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : misragirishwar@gmail.com
प्रश्नपत्र समन्वयक	प्रो. सूरज पालीवाल अध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : surajpaliwal@yahoo.com
इकाई लेखक	डॉ. जयप्रकाश एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग शासकीय विश्वनाथ यादव तामस्कर स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय दुर्ग (छत्तीसगढ़) ईमेल : jaiprakash.shabdsetu@gmail.com
इकाई समीक्षक	डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.) ईमेल : suryadixit123@gmail.com
भाषा संपादक	प्रो. सूरज पालीवाल अध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : surajpaliwal@yahoo.com

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पाठ की अंतर्वस्तु : शुक्लोत्तर आलोचना की विविध प्रवृत्तियाँ
4. निष्कर्ष

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरांत आप-

- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद की प्रमुख आलोचना-प्रवृत्तियों की पहचान तथा उनके वैशिष्ट्य को रेखांकित कर सकेंगे।
- युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में विभिन्न आलोचना प्रवृत्तियों के उभार को समझ सकेंगे।
- हिंदी-आलोचना के ऐतिहासिक विकास-क्रम का अध्ययन एवं मूल्यांकन कर सकेंगे।

2. प्रस्तावना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में सामाजिक विवेक, नैतिक अंतर्दृष्टि और सौंदर्यबोध के साथ पारंपरिक शास्त्रीय दृष्टि का संतुलन दिखाई पड़ता है। उनके लिए काव्य लोकमंगल की साधना है। आचार्य शुक्ल ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की परंपरा को आगे बढ़ाया। दोनों आचार्यों ने साहित्य में अंधशास्त्रीयता और रीतिवाद का विरोध किया। शुक्लजी ने रीतिवाद की बजाए यथार्थ-बोध को आधार बनाकर जायसी, सूर और तुलसी के सृजन की नवीन संदर्भों में व्याख्या की। इस तरह उन्होंने हिंदी-आलोचना की आधुनिक दृष्टि का विकास किया। रहस्यवाद के विरुद्ध उनका प्रतिवाद दरअसल रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी पक्षधरता का ही रूपांतर है। कला में अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हुए वे दरअसल कलावाद और रूपवाद का प्रतिवाद कर रहे थे। शास्त्र और लोक के बीच संघर्ष में वे लोक के पक्ष में खड़े हुए। इन्द्रिय-बोध और वायवीयता के बीच द्वंद्व में उन्होंने इन्द्रिय-बोध की तरफदारी की।

आचार्य शुक्ल का लोकवाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नैतिक बोध का ही विस्तार है। वे व्यक्तिवाद या कलावाद या सौंदर्यवाद के विरोधी ठहरते हैं। उनका लोक के प्रति आग्रह कलावाद का नैतिक प्रतिपक्ष है। शुक्लजी ने हिंदी-आलोचना को ऐतिहासिक रूप से सुसंगत तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रणालीबद्ध और व्यवस्थित रूप दिया।

छायावाद की स्वच्छंदता-मूलक चेतना की व्याख्या उनके परवर्ती आलोचकों ने की। इनमें आचार्य नंददुलारे वाजपेयी प्रमुख हैं। दूसरी ओर शुक्लजी की लोकधर्मिता और जीवन-यथार्थ के प्रति उन्मुख दृष्टि का विकास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना में दिखाई पड़ता है। शुक्लजी की वैचारिक भूमि पर हिंदी-आलोचना का ढांचा खड़ा करने का प्रयत्न इन दोनों आचार्यों ने किया, लेकिन शुक्लजी के बाद यूरोपीय समीक्षा की अधुनातन प्रवृत्तियों का दबाव हिंदी-आलोचना पर पड़ने लगा था।

3. पाठ की अंतर्वस्तु : शुक्लोत्तर आलोचना की विविध प्रवृत्तियाँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना का विकास एकाधिक दिशाओं में हुआ। इस तरह विविध आलोचना-प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल की कुछ मान्यताओं से टकराते हुए हिंदी-आलोचना के विकास में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। आचार्य द्विवेदी ने इतिहास-बोध या परम्परा-बोध को महत्व दिया, जबकि आचार्य वाजपेयी ने आत्मवादी चेतना की व्याख्या नए संदर्भों में की।

शुक्लोत्तर आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा के क्रम में सबसे पहले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक चिंतन का जिक्र करना उचित होगा --

3.1 चिन्मुखी मानवतावादी आलोचना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचक व्यक्तित्व को किसी आलोचना-पद्धति के दायरे में समेटना कठिन है। वे विद्वान आचार्य थे, किंतु उन्होंने पांडित्य और शास्त्रीयता की रुढ़ियों को अस्वीकार कर माननीय विवेक-दृष्टि को महत्व दिया। उन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के भीतर शोध करते हुए भारतीय साहित्य की प्राण ऊर्जा और परंपरा की सर्जनात्मकता की खोज की। उन्होंने निपट तथ्यान्वेषण नहीं किया। अतीत को खंगालते हुए वे पुरोगामी भी नहीं हुए, बल्कि इतिहास के सत्व को वर्तमान के यथार्थ से जोड़ कर उसमें शक्ति का संचार किया। द्विवेदी जी की स्थापना थी कि जब तक इस संसार में मनुष्य रहेगा, वह अपनी मनुष्य-सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करता रहेगा। यह दरअसल मनुष्य को गतिशील बनाए रखने का संघर्ष है, जो साहित्य में प्रकट होता है और मनुष्य-सत्य के रूप में प्रतिष्ठित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि द्विवेदी जी का यह मनुष्य सत्य, शुक्लजी के लोक-धर्म का ही विस्तार अथवा रूपांतरण है।

आचार्य द्विवेदी ऐतिहासिक बोध और सांस्कृतिक दृष्टि-संपन्न आलोचक हैं। उनकी चिंताएं व्यापक रूप से सभ्यतामूलक हैं। नई सभ्यता की स्थूल यांत्रिकता के बरअक्स वे मनुष्य की चित्तवृत्ति के अवगाहन को साहित्य के केंद्र में रखते हैं। द्विवेदी जी ने प्राचीन साहित्य के शोध और आलोचना में बराबर चिन्मुखी मानवता पर एकाग्र दृष्टि से विमर्श किया। मनुष्य को साहित्य के केंद्र में रखकर चिंतन करने की वजह से आचार्य द्विवेदी विभिन्न विचारसरणियों और समीक्षा-पद्धतियों की एकांगिता की ओर इंगित करते हैं और एक संतुलित दृष्टि से निर्माण की जरूरत पर बल देते हैं।

साहित्य के इतिहासकार और आलोचक के रूप में द्विवेदी जी को आचार्य शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के प्रकाशन के कुछ ही वर्ष बाद प्रकाशित उनकी पुस्तक 'हिंदी साहित्य की भूमिका' से मान्यता मिली। इस पुस्तक में उन्होंने आचार्य शुक्ल से अलग रास्ता अपनाया। शुक्ल जी ने जहां हिंदी साहित्य को ललित साहित्य तक सीमित कर धर्म और संप्रदायों से जुड़ी रचनाओं को साहित्य से अलग कर दिया था, वहीं द्विवेदी जी ने उसे प्रतिरोध की परंपरा और लोक-चेतना से जोड़कर देखा और इतिहास में न सिर्फ समाहित किया, बल्कि उसे और उसके महत्व को रेखांकित भी किया। इस पुस्तक में उन्होंने मुख्य रूप से चार बिंदुओं पर जोर दिया -

1. हिंदी-साहित्य के इतिहास को जनचेतना के इतिहास के रूप में देखा जाना चाहिए।
2. हिंदी-साहित्य को समूचे भारतीय साहित्य की परंपरा से जोड़ कर समझा जाना चाहिए।
3. हिंदी-साहित्य के माध्यम से व्यक्त चेतना की व्याख्या भारतीय चेतना के सहज विकास के संदर्भ में की जाना चाहिए।
4. हिंदी-साहित्य को सिर्फ साहित्यिक रचनाओं तक सीमित न किया जाए। उसे समग्रता में समझने के लिए जैन-बौद्ध-अपभ्रंश साहित्य, शैवागम, वैष्णव-आगम, सिद्ध और नाथ के अलावा तंत्र-साहित्य को भी समाहित किया जाना उचित होगा।



आचार्य शुक्ल ने कबीर के काव्य की उपेक्षा की, लेकिन द्विवेदीजी ने जोर देकर कहा कि 'हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर-जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ है।' उन्होंने कबीर को हिंदी-काव्य-परिदृश्य में स्थापित किया।

3.2 स्वच्छंदतावादी आलोचना

शुक्लोत्तर आलोचना की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति स्वच्छंदतावादी आलोचना है, जिसका आरंभ स्वच्छंदतावादी काव्य अर्थात् छायावाद के उभार के साथ हुआ। छायावादी कवियों ने अपने सृजन की उपेक्षा से खीझ कर प्रतिक्रिया-स्वरूप अपने काव्य-संग्रहों की भूमिका के रूप में जो टिप्पणियाँ लिखीं, उनसे इस आलोचना-शैली का सूत्रपात हुआ। आलोचना को छायावादी कवियों ने 'आपद्धर्म' के रूप में अपनाया, लेकिन बिल्कुल आरंभिक दौर में जयशंकर प्रसाद लिख चुके थे कि 'साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता और उसके लिए कोई विधि या निबन्धना नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतंत्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है।' स्वच्छंदतावादी आलोचना की यह आरंभिक घोषणा है। इससे प्रकट है कि द्विवेदी-युग के भीतर से ही स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ फूट रही थीं और उस युग की नैतिकतामूलक साहित्य-प्रवृत्ति को चुनौती दे रही थीं।

इसके बाद मुकुटधर पांडेय का चर्चित निबंध 'छायावाद क्या है' आया। इस निबंध में उन्होंने छायावाद के आरंभिक लक्षणों को रेखांकित करते हुए वस्तु को प्राकृतिक रूप में नहीं अन्य रूप में 'देखने' और 'कवि के अंतर्जगत' में उसके उद्भासित होने की बात कही। स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग की सुधारवादी दृष्टि और उसके नैतिक आग्रहों को दरकिनार कर कवि के अंतर्जगत को मुक्त करने का अभियान काव्य में एक नए युग के सूत्रपात को रेखांकित कर रहा था। छायावादी कवियों ने आलोचना लिखकर इसका समर्थन किया।

हिंदी की स्वच्छंदतावादी समीक्षा को यूरोपीय स्वच्छंदतावादी समीक्षा का भारतीय संस्करण कहा गया है। छायावादी कवियों पर भी इसी तरह रोमांटिक कवियों का प्रभाव स्वीकार किया गया है। दोनों में काव्य की स्वतंत्र सत्ता, वैयक्तिक चेतना, प्रकृति के प्रति उत्सुकता, कल्पना की उड़ान समान रूप से विद्यमान है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा ने छायावादी काव्य में उनके प्रतिफलन के मानवीय और कलात्मक पक्ष का विवेचन किया।

स्वच्छंदतावादी हिंदी आलोचकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी और डॉ. नगेंद्र उल्लेखनीय हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने छायावाद के प्रति सहानुभूति और समर्थन व्यक्त किया। उन्होंने प्रसाद, निराला और पंत के काव्य की समीक्षा स्वच्छंदतावादी प्रतिमानों के आधार पर की, और उनकी कलात्मकता का विश्लेषण करते हुए उन्हें छायावाद की 'वृहत्त्रयी' के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह साहसिक कार्य था, क्योंकि आचार्य शुक्ल छायावाद को लगभग नकार चुके थे। वाजपेयीजी ने शुक्लजी की लोकमंगलवादी दृष्टि के स्थान पर सौंदर्यबोध-आत्मक स्वच्छंदतावादी मूल्यों को स्थापित किया। यह ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य था।

छायावादी काव्य के दूसरे महत्वपूर्ण व्याख्याकार और स्वच्छंदतावादी आलोचना के स्तंभ शांतिप्रिय द्विवेदी हैं। वे सौंदर्यग्राही आलोचक थे और कृति की तार्किक और विवेकपूर्ण व्याख्या के बजाए वे उसकी रागात्मक अनुभूति से प्रभावित होकर आलोचना करते थे। यह एक तरह की प्रभावाभिव्यंजक आलोचना थी।

डॉ. नगेंद्र की पहचान 'रस' की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और शास्त्र-निष्ठ चिंतन के लिए है, लेकिन छायावाद के आरंभिक व्याख्याकार के रूप में स्वच्छंदतावादी आलोचना के विकास में भी उनका उल्लेखनीय योगदान है।

3.4 प्रभाववादी आलोचना

शुक्लोत्तर आलोचना की क्षीण धारा प्रभाववादी आलोचना की है। इस तरह की आलोचना में आलोचक कृति के सौंदर्य से प्रभावित होकर उस प्रभाव की व्याख्या करने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो आलोचना रचना से ही स्पर्धा करने लगती है और इस प्रयत्न में आलोचक तर्क-बोध की जगह भावात्मकता का सहारा लेता है। प्रभाववादी आलोचक रचना के समानांतर आलोचना को सौंदर्यात्मक भूमि पर रचना के रूप में ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। शांतिप्रिय द्विवेदी की छायावाद की समीक्षा कुछ-कुछ इसी कोटि की है। 'बिहारी सतसई' पर केंद्रित पदमसिंह शर्मा की समीक्षा में भी प्रभाववादी असर दिखाई पड़ता है। भगवतशरण उपाध्याय हालाँकि प्रगतिशील विचारक हैं, लेकिन गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'नूरजहां' की समीक्षा उन्होंने प्रभाववादी ढंग से की है। छायावाद के दौर में और उसके बाद भी प्रभाववादी समीक्षा के छिटपुट उदाहरण मिलते रहे हैं, लेकिन एक संगठित और व्यवस्थित समीक्षा-पद्धति के रूप में हिंदी-साहित्य में उसका विकास नहीं हो सका है।

3.5 मनोवैज्ञानिक या अंतश्चेतनावादी आलोचना

मनोवैज्ञानिक या अंतश्चेतनावादी आलोचना फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविज्ञान-संबंधी सिद्धांतों से प्रेरित है। दमित काम-भावना को कलात्मक सृजन का उत्स मानते हुए सिगमंड फ्राइड ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए, एडलर और जुंग ने क्रमशः अधिकार भावना और सामूहिक अवचेतन की भूमिका पर जोर देते हुए उसमें अंतश्चेतना की सक्रिय भूमिका को रेखांकित किया। इस सिद्धांत का विश्व-भर के कला-साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

हिंदी में इलाचंद्र जोशी ने 1940 में 'साहित्य सर्जना' लिखकर इस तरह की आलोचना-पद्धति की शुरुआत की। उसके बाद उन्होंने 'विवेचना', 'विश्लेषण', 'देखा परखा' आदि आलोचना-कृतियों में मनोविज्ञान की सहायता से अनेक रचनाओं और साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया। जोशी जी ने हिंदी के भक्तिकाव्य को भक्त कवियों की कामजन्य कुंठाओं की अभिव्यक्ति निरूपित किया। छायावादी काव्य की व्याख्या भी उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर की।

हिंदी के अंतश्चेतनावादी आलोचकों में डॉ. नगेंद्र, डॉ. देवराज उपाध्याय और अज्ञेय प्रमुख हैं। डॉ. नगेंद्र ने आरंभ में स्वच्छंदतावादी समीक्षा-दृष्टि का प्रयोग किया। बाद में वे भारतीय काव्यशास्त्र की ओर मुड़े और आधुनिक दृष्टि से उन्होंने रस-सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की। इस प्रयत्न में आधुनिक मनोविज्ञान की अवधारणाओं का प्रयोग करते हुए उन्होंने मनोविज्ञान को रहस्यवाद का पूरक माना। वे आइ.ए. रिचर्ड्स और क्रोचे के साहित्य-सिद्धांतों से विशेष प्रभावित हुए। उनका उपयोग भी उन्होंने रस की व्याख्या में किया। फ्रायड के सिद्धांतों को डॉ. नगेंद्र ने एकपक्षीय और अविश्वसनीय मानते हुए भी रस की व्याख्या की दृष्टि से उपयोगी निरूपित किया।

अज्ञेय ने कलाकार के हीनता-बोध को कलात्मक सृजन का मूलधार माना। उनके मतानुसार 'अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर कलाकार जब विद्रोह कर देता है तो उसका यह विद्रोह ही कलात्मक सृष्टि के रूप में प्रकट होता है 'अज्ञेय' परंपरागत अर्थ में समालोचक नहीं, बल्कि गहरे अर्थ में विचारक थे।

डॉ. देवराज उपाध्याय ने मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आधार पर कथा-साहित्य का अध्ययन किया। उनकी पुस्तक 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। निःसंदेह साहित्य-सृजन की प्रक्रिया का

मनोविज्ञानिक पक्ष भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिए रचनाकार की रचना-प्रक्रिया का अध्ययन-विश्लेषण किया जाना भी उचित है। किंतु यह समीक्षा-पद्धति साहित्य की समग्र प्रक्रिया और सौंदर्य की व्याख्या करने के लिए सक्षम नहीं है। यही वजह है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति का आगे चलकर विकास नहीं हो पाया।

3.5 प्रगतिशील आलोचना

प्रगतिशील आलोचना मार्क्सवादी कला-चिंतन से प्रभावित है। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद साम्यवाद के सिद्धांतों के आधार पर साहित्य की रचना और उसके मूल्यांकन की परिपाटी शुरू हुई। प्रगतिशील आलोचना में साहित्य के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को मूल्यांकन का आधार माना गया। प्रगतिशील विचारधारा एक संगठित आंदोलन के रूप में अग्रसर हुई। प्रगतिशीलता की कसौटी के रूप में सामाजिक मूल्यों तथा यथार्थ के प्रति सजगता और प्रतिबद्धता को स्वीकार किया गया।

हिंदी के आरंभिक प्रगतिशील आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चंद्र गुप्त, रांगेय राघव, अमृतराय आदि प्रमुख हैं। आगे चलकर रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, चंद्रबली सिंह, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रमेश कुंतल मेघ आदि ने उसे समृद्धि और व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद 1937 में शिवदान सिंह चौहान के 'विशाल भारत' में प्रकाशित लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' से प्रगतिशील आलोचना की शुरुआत मानी जा सकती है। हालांकि इस लेख में प्रगतिशील लेखक संघ के लंदन घोषणापत्र की अवधारणाओं को दोहराया गया है। दरअसल श्री चौहान और अन्य आरंभिक प्रगतिवादियों ने, जिनमें राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और प्रकाश चंद्र गुप्त जैसे लेखक शामिल हैं, भारतीय साहित्य-परंपरा की अनदेखी कर मार्क्सवाद की सैद्धांतिक मान्यताओं को आत्यंतिक मानदंड मानकर मूल्यांकन किया। फलस्वरूप उन्होंने अतार्किक और मनमाने निर्णय दिए। इस तरह उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता तो प्रकट हुई, लेकिन विवेक-दृष्टि का अभाव भी छिपा नहीं रह सका।

शिवदान सिंह चौहान की सैद्धांतिक मान्यताएं 'प्रगतिवाद' नामक पुस्तक में संकलित हैं। चौहान-सहित प्रारंभिक प्रगतिशील आलोचकों ने प्रेमचंद, तुलसीदास, छायावाद, रीतिकाव्य, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि का असंगत ढंग से मूल्यांकन किया। उस दौर तक की मार्क्सवादी साहित्य-सैद्धांतिकी, विशेष रूप से मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन, प्लेखानोव, कॉडवेल आदि के विचारों, के प्रभाव में उन्होंने अत्यंत कठोर निर्णय दिए। उनका सर्वनकारवाद इतना प्रबल था कि वे समूचे हिंदी-साहित्य को खारिज करने को सन्नद्ध जान पड़ते हैं।

प्रकाश चंद्र गुप्त की आलोचना पुस्तकें 'आधुनिक हिंदी-साहित्य : एक दृष्टि', 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा', और 'साहित्य धारा' हिंदी में प्रगतिशील आलोचना के प्रारंभिक दौर की उल्लेखनीय कृतियां हैं। व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण हैं। लेकिन मार्क्सवाद की साहित्यिक विचारधारा को यथावत और यांत्रिक ढंग से साहित्यिक कृतियों पर लागू करने के प्रयत्न में यहां भी मौलिक चिंतन की अनदेखी की गई।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद साहित्य में उससे प्रभावित प्रगतिवादी आंदोलन का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। लेकिन शीतयुद्ध के वैश्विक स्तर पर तीव्र हो जाने के कारण पूंजीवाद और साम्यवाद का वैचारिक धुवीकरण भी सक्रिय हो उठा। साहित्य में अमेरिकी वैचारिक प्रभाव पड़ने के साथ उसके प्रतिरोध की विचारधारा भी प्रगतिशील साहित्य के

रूप में सक्रिय हो उठी। फलस्वरूप प्रगतिशील आलोचना में कट्टरपंथ का असर भी तीव्र हुआ। इसमें जो विध्वंसक तथा नकारवादी प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ रही थीं, उनके विरुद्ध रामविलास शर्मा ने संघर्ष किया। दूसरी ओर साहित्य में शीतयुद्ध की राजनीति और प्रगतिशील शिविर में उसके शिथिल प्रतिरोध की तीव्र आलोचना मुक्तिबोध की समीक्षा में मिलती है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी-समाज और साहित्य की परंपरा का प्रगतिशील जीवन-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठन किया। उन्होंने निराला पर अपनी शाहकार कृति 'निराला की साहित्य साधना' लिखकर व्यावहारिक समीक्षा का एक आदर्श प्रस्तुत किया। बाद में हिंदी के आधुनिक साहित्य की परंपरा की तार्किक व्याख्या करते हुए उन्होंने भारतेन्दु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर पुस्तकें लिखीं। भारतेन्दु-युग पर विचार करते हुए उन्होंने 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा प्रस्तुत की और उसे उपनिवेशवाद-विरोधी जनांदोलनों से जोड़ते हुए 1857 के स्वाधीनता संग्राम को 'नवजागरण का गोमुख' कहा। डॉ. शर्मा ने भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग और उसके बाद के साहित्य को हिंदी नवजागरण के संदर्भ में समझने का आग्रह किया। इस दृष्टि से उनकी 'भारतेन्दु-युग', हिंदी नवजागरण तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'प्रेमचंद और उनका युग' और 'रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' जैसी पुस्तकों का विशेष महत्व है। प्रगतिशील आलोचकों द्वारा आचार्य शुक्ल को प्रतिगामी कहकर अवहेलना की जा रही थी। डॉ. शर्मा ने लिखा 'हिंदी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यास में प्रेमचंद तथा कविता में निराला का है। 'निराला और आचार्य शुक्ल का महत्व स्थापित करने के साथ डॉ. शर्मा ने अपने समकालीन लेखकों वृंदावन लाल वर्मा, अमृत लाल नागर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि की गंभीर समीक्षा की। मुक्तिबोध कविता-संबंधी उनकी स्थापनाएं 'जो नई कविता और अस्तित्ववाद' में उल्लिखित हैं, अवश्य ही विवादास्पद रहीं।

मुक्तिबोध प्रगतिशील आलोचना के एक महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। उन्होंने नई कविता आंदोलन को उसके सही संदर्भों में समझने की कोशिश की। वे खासतौर से अपने समकालीन प्रगतिशील आलोचकों से असंतुष्ट थे। उनकी शिकायत थी कि अपनी बौद्धिक कमजोरी के कारण प्रगतिशील आलोचकों ने नई कविता का पूरा क्षेत्र अपने प्रतिपक्षियों को सौंप दिया। मुक्तिबोध व्यक्तिवाद-कलावाद आदि पतनशील पूंजीवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ हैं। उन्होंने नई कविता में लघु मानववाद का कड़ा प्रतिवाद किया। 'तार सप्तक' के वक्तव्य, 'नई कविता का आत्म संघर्ष', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' आदि के जरिए उन्होंने हिंदी में मार्क्सवादी काव्य-चिंतन की ज़मीन तैयार की। वे नई कविता की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि पर सशक्त प्रहार करते हैं। उन्होंने काव्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया माना। उनके विचार में 'कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों को प्रकट करना चाहती है।' मुक्तिबोध ने रचना-प्रक्रिया पर भी चिंतन किया है। 'एक साहित्यिक की डायरी में' वे कला के तीन क्षण और फेंटेसी की चर्चा करते हैं। उन्होंने साहित्य के वर्गीय आधार पर विशेष बल दिया है। मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से जयशंकर प्रसाद की कृति कामायनी का गंभीर विश्लेषण किया और व्यावहारिक समीक्षा तथा प्रगतिशील व्यावहारिक समीक्षा की एक बानगी प्रस्तुत की।

अन्य प्रगतिवादी विचारकों में डॉ. नामवर सिंह अग्रणी हैं। उनकी 'इतिहास और आलोचना', 'छायावाद', 'कहानी नई कहानी', 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी परंपरा की खोज' आदि कृतियों में उन्होंने साहित्य के सामाजिक पक्ष और सौंदर्य-पक्ष के बीच संतुलन स्थापित करते हुए महत्वपूर्ण स्थापनाएं दी हैं, जिनसे हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को सुदृढ़ आधार-भूमि प्राप्त हुई। नामवर सिंह ने छायावाद के सामाजिक संदर्भ को रेखांकित किया और नई कविता के प्रतिमानों की जगह कविता के नए प्रतिमानों को स्वीकार करने का आग्रह किया।

3.6 नई समीक्षा

पश्चिम में पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में नई समीक्षा की चर्चा जोर-शोर से हुई। हिंदी में इसका प्रभाव 1950 के बाद प्रकट हुआ। नई समीक्षा वस्तुतः रूपवादी और स्वायत्ततावादी साहित्यिक प्रवृत्ति है। पश्चिम में नई समीक्षा ने पारंपरिक साहित्यिक मानदंडों को अस्वीकार कर दिया और रचना को रचना की शर्तों पर जांचने-समझने का आग्रह किया। साहित्य की निर्मिति में रचनाकार के निजी जीवन के रचना पर प्रभाव, उसके वैचारिक आग्रह तथा उसके सामाजिक परिवेश की भूमिका को नई समीक्षा ने पूरी तरह नकार दिया था।

हिंदी की नई समीक्षा का विकास एक काव्य आंदोलन के रूप में नई कविता के उभार के साथ हुआ। डॉ. जगदीश गुप्त और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'नई कविता' के साथ काव्य के मूल्यांकन के नए प्रतिमानों की बहस उठ खड़ी हुई। इसके पहले अज्ञेय ने प्रयोगशीलता पर बल देकर उसका सैद्धांतिक आधार भी निर्मित कर दिया था। नई कविता की पक्षधर समीक्षा प्रगतिवादी समीक्षा के प्रतिपक्ष के रूप में उभरकर आई। दरअसल शिल्पगत चमत्कारों को लेकर उठी बहस ने नई कविता में एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया था। बहस में नेमिचंद्र जैन, डॉ. रघुवंश, विजयदेव नारायण साही से लेकर मलयज-जैसे युवतर लेखक शामिल थे। इस बहस में ही नई कविता की आलोचना के सूत्र विकसित हुए। नई कविता के समीक्षकों ने कविता के नए प्रतिमानों पर बल दिया। नए प्रतिमानों से तात्पर्य काव्य के पारंपरिक शास्त्रीय प्रतिमानों से भिन्न बिंब, प्रतीक और भाषा आदि से था। ये नए प्रतिमान काव्य को स्वायत्त साहित्यिक निर्मिति मानकर प्रस्तावित किए गए थे और पश्चिम की नई समीक्षा की सैद्धांतिकी के अनुरूप थे। नई कविता की सैद्धांतिक बहस में 'कविता क्या है' जैसा मूलभूत प्रश्न फिर से उठ खड़ा हुआ था। इसी प्रश्न के साथ काव्य-प्रतिमानों के रूप में अनुभूति की प्रामाणिकता, परंपरा और आधुनिकता, सामाजिकता और प्रतिबद्धता, आधुनिक भावबोध, सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन, अनास्था, अमानवीयकरण, संत्रास, जटिलता, तनाव, विसंगति, विडंबना, अकेलापन, आत्म-निर्वासन, अस्तित्व का संकट, अस्मिता का संकट, विवशता आदि को प्रतिमानों के रूप में प्रस्तावित किया गया। काव्य-संरचना, काव्य और सृजनशीलता, अनुभूति की जटिलता, काव्य-बिंब और सपाटबयानी, नया प्रतीक-विधान, नई उपमान योजना, रचना-प्रक्रिया की समस्या। रचनाकार की दृष्टि आदि नए प्रश्न उठे। हिंदी की नई समीक्षा संबंधी चर्चा में इन तमाम प्रश्नों पर विचार किया गया।

नई कविता के समीक्षकों पर पश्चिमी चिंतन का बहुत गहरा असर था -- विशेष रूप से अस्तित्ववादी दर्शन और व्यक्तिवादी विचारधारा का। इस प्रभाव के चलते नई कविता के समीक्षकों ने जो प्रमुख सिद्धांत प्रस्तुत किए उनमें लघु मानव-सिद्धांत, संत्रास, आधुनिकता तथा परंपरा, क्षणवाद, अनुभूति की प्रामाणिकता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य बनाम सामाजिक दायित्व, कला में निर्वैयक्तिकता आदि प्रमुख हैं। नई कविता के महत्वपूर्ण समीक्षकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. रघुवंश, नेमिचंद्र जैन, लक्ष्मीकांत वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, विपिन कुमार अग्रवाल, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही आदि प्रमुख हैं।

4. निष्कर्ष

हिंदी-आलोचना के लगभग सौ वर्ष के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद की आलोचना का दौर बौद्धिक-वैचारिक विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस दौर में आलोचना नई वैचारिक प्रवृत्तियों और सामाजिक प्रश्नों से लगातार टकराते हुए वाद-विवाद और संवाद के जरिए क्रमशः विकसित हुई और उसने नई ऊंचाइयों का स्पर्श किया। आचार्य शुक्ल ने जिन मूल्यों और आदर्शों को केंद्र में रखकर हिंदी की आलोचनात्मक मेधा को स्थापित



किया उसका विकास, एक तरफ सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में और जनचेतना के अनुरूप तथा दूसरी तरफ विवादी विचारों के साथ द्वंद्व के बीच निरंतर होता दिखाई देता है।

आचार्य शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा परंपरा और आधुनिकता के बीच गहरे द्वंद्व के ज़रिये विकसित हुई थी। परवर्ती आलोचना में प्रगतिशीलता और यथार्थवाद यदि साहित्यिक मूल्य के रूप में मान्य हुए, तो निःसंदेह यह आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि का ही रूपांतरण और विस्तार है। इस आलोचना-दृष्टि को स्वछंदतावादी आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना और नई समीक्षा के रूप में वैचारिक चुनौतियाँ मिलीं। ये तीनों ही आलोचना-पद्धतियाँ पश्चिमी आलोचना की अलग-अलग पद्धतियों से प्रभावित हैं। प्रगतिशील आलोचना पद्धति भी अंततः पश्चिम से ही आयातित है, लेकिन अपनी जन-प्रतिबद्धता और यथार्थवादी दृष्टि के चलते वह आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि के साथ सामंजस्य कायम करती है और उसका विकास करती है। इसलिए प्रगतिशील आलोचना को हिंदी-आलोचना की परंपरा के विकास के रूप में देखा जा सकता है। उसका यथार्थ-बोध उसे निरंतर उत्तरजीवी बनाता है, जबकि अन्य आलोचना पद्धतियों ने कुछ समय बाद दम तोड़ दिया।

अगर हिंदी का स्वतंत्र आलोचना-शास्त्र विकसित हो सका, तो उसकी बुनियाद में आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित आलोचना-परंपरा होगी, इसमें शायद ही किसी को संदेह होगा।